अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिए दोषों से बचते हुए जो व्यक्ति श्रद्धा-पूर्वक थोडा भी कुछ करेगा उससे भी वह अधिक लाभ उठा सकेगा।

वस्तुतः सम्यक् दर्शन या शुद्ध श्रद्धा का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार सूर्य का उदय सृष्टि को नया रूप, नया जीवन प्रदान करता है, रजनी का निबिड़ अन्धकार सहस्त्ररश्मि के उद्रित होते ही असीम आलोक के रूप में पलट जाता है और चराचर जगत में एक नूतन स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का उन्मेष होने पर आत्मा की भी ऐसी ही स्थिति होती है। जब तक सम्यग्दर्शन उदय नहीं होता, आत्मा जड़ता-ग्रस्त और प्राणविहीन सा बना रहता है। मगर सम्यग्दर्शन का उदय होते ही आत्मा में एकदम नवीन आलोक उत्पन्न होता है और वह आलोक उसमें एक ऐसा स्पन्दन पैदा करता है, जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया होता। सम्यग्दर्शन की अपूर्व ज्योति आत्मा के विचारों पर तो गहरा प्रभाव डालती ही है, व्यवहार में भी आमूल-चूल परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। विचार और आचार में गहरा सम्बन्ध है। आचार विचार का क्रियात्मक मूर्त रूप है और विचार व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। अतएव जब हमारी दृष्टि में महत्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो आचार एवं विचार पर उसका असर न हो यह असम्भव है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही मनुष्य महाव्रत अथवा अणुव्रत अंगीकार कर सर्वव्रती या देशव्रती बन जाय, तथापि यह निश्चित है कि उसकी जीवन प्रणाली में उसके व्यवहार में महान अन्तर आ जाता है। सम्यग्दर्शन या शुद्ध श्रद्धा का मुख्य कार्य यह है कि वह व्यक्ति की जीवन दृष्टि को बदल देते हैं। उसे भोगोन्मुख से आत्मोन्मुख बना देते हैं। यही श्रद्धा जीवन में मुख्य कार्य है, जिस से व्यक्ति आसक्ति, ममत्व और राग के घेरे से उपर उठकर परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है।

आत्मिक उत्क्रान्ति के सोपान

— प्र. वक्ता श्री सौभाग्यमलजी महाराज :

अनन्त अतीत काल में जब मानव ने विचार के क्षेत्र में प्रवेश किया, उसके सामने यह बराबर प्रश्न एक गूढ़ पहेली के रूप में उपस्थित हुआ। प्रकृति की अद्भुत लीलाएं –हिमाच्छादित उत्तुंग शिखरें, उफनते हुए नदी-नाले, सागर की अथाह जलराशि, विशाल मरूस्थल, घने वन—, आकाश में जगमगाने वाली असंख्य तारक मालिकाएं, बादलों की गर्जना और बिजली की चकाचौंध आदि को देखकर विचारशील मानव को सहज जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि यह क्या हैं? क्यों हैं? कब से हैं? इसका कोई कार्य-कारण हैं या नहीं? आदि अगणित प्रश्न मानव के मस्तिष्क में उठने लगे। जिज्ञासा का यह प्रवाह आगे बढ़ता चला। विचारों का वेग निरन्तर चलता रहा। उसके चिन्तन का क्षेत्र व्यापक होता गया। उसके सामने प्रश्न खड़ा हुआ कि क्या यह विश्व इतना ही है, जितना दिखाई पड़ता है या इस दृश्यमान जगत् से परे भी कोई अदृश्य सत्ता है? यह स्थूल जगत् ही सब कुछ है या कोई सूक्ष्म तत्त्व भी विद्यमान है? इसी संदर्भ में सोचते हुए उसे अपने सम्बन्ध में प्रश्न हुआ कि "मै क्या हूँ? क्या मैं जड़ भूतों का पिण्ड हूं या उससे पृथक् चेतन तत्त्व की विराट सत्ता हूँ?

इन प्रश्नों ने मानव की चिन्तन-धारा को अविरत गति प्रदान की। निरन्तर काल से इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार होता चला आया है। महामनीषी चिन्तकों और विचारकों ने इन प्रश्नों को विभिन्न दृष्टिकोणों से उत्तरित करने के प्रयास किये हैं। इन प्रश्नों और उत्तरों का अध्ययन ही विचारणीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन प्रश्नों के उतर दुनिया के विचारकों और चिन्तकों ने भिन्न भिन्न रूप से दिये हैं। भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों को लेकर भिन्न भिन्न विचार प्रकट किये गये हैं। ये विभिन्न विचार-सरणियां संख्यातीत हैं तदपि वर्गीकरण के सिद्धान्त से हम इन्हें दो भागों मे विभक्त कर सकते हैं।

नास्तिक विचारधारा

एक भाग में वे विचारक आते हैं जो यह मानते हैं कि यह जगत् इतना ही है जितना दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। न आत्मा है, न परमात्मा है, न स्वर्ग है, न नरक है। शरीर ही मूल तत्त्व है, कोई आत्मा नामक तत्त्व नहीं है। पंच भूतों से शरीर बनता है और भूतों में ही विलीन हो जाता है। चैतन्य भी शरीर का धर्म है। शरीर के साथ चैतन्य का भी अन्त हो जाता है। कोई आत्मा नाम का तत्त्व नहीं है। न परमात्मा है और न भवान्तर ही है। यह नास्तिक, भौतिक, जडवादी विचारधारा है।

आस्तिक विचारधारा

इसके विपरीत, दूसरे भाग में वे महामनीषी विचारक आते हैं जो सूक्ष्मदर्शी है। उनकी पैनी दृष्टि इस स्थूल जगत् से परे एक विराट विश्व का दर्शन करती है। वे मानते हैं कि जो कुछ इस दृष्टि से दिखाई पड़ता है वह तो बिन्दुमात्र है उस विराट सिन्धु का, जो दिखाई नही देता। इस दृश्यमान भौतिक जगत से परे एक आध्यात्मिक विराट सृष्टि है। हमारी इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति अत्यन्त परिमित और सीमित है। उनके द्वारा स्थूल बातों का ही ज्ञान हो सकता है। सूक्ष्म विषयों में इन्द्रियों की गति नहीं होती। एतावता यह नहीं कहा जा सकता कि सूक्ष्मत्व है ही नहीं? वास्तविकता तो यह है कि वे सूक्ष्म तत्व ही मौलिक और बुनियादी तत्त्व हैं, जो इस बाह्य स्थूल जगत की अपेक्षा चेतनतत्व की आध्यात्मिक दुनिया अनन्त गुण विराट और व्यापक है। इस स्थूल जगत् का केन्द्रबिन्दु शरीर है, जब कि सूक्ष्म आभ्यन्तर जगत् का केन्द्रबिन्दु सच्चिदानंदमय आत्मा है। आत्मा और परमात्मा के सनातन सत्य को स्वीकार करने वाली विचारधारा को आस्तिक मार्ग कहा जाता है।

आस्तिक विचारधारा का प्राधान्य

भारतवर्ष में सनातनकाल से आस्तिक विचार धारा का ही प्राधान्य रहा है। भौतिक जड़वादी नास्तिक विचारधारा को इस देश में कोई सन्मान प्राप्त नहीं हुआ। यहां सदा से ही आस्तिक विचार धारा को महत्व और गौरव प्रदान किया गया है। जैन, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य ये छहों दर्शन आस्तिक विचार धारा के पोषक रहे हैं। इन्होंने अपनी पैनी युक्तियों से नास्तिक विचार धारा का खन्डन करके आस्तिक विचार धारा का मण्डन किया है। इन दार्शनिकों ने अपने प्रबल पुरुषार्थ से भौतिक जड़वादी विचारधारा को तिरस्कृत कर आध्यात्मिक जगत् के महत्त्व को प्रतिष्ठापित किया। भारत की संस्कृति में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना का श्रेय इन सूक्ष्मदर्शी महामनीषियों को है, जिन्होंने आत्मा और परमात्मा के विषय में गहन चिन्तन किया है।

जैन दर्शन में आत्मा का सूक्ष्म निरूपण

यद्यपि सभी आस्तिक दर्शनों ने आत्मा और परमात्मा के विषय में अपने अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं और तत्सम्बन्धी शास्त्रों, ग्रन्थों और पुस्तकों की रचना के माध्यम से उन्हें प्रचारित किया है, तदपि आत्मा के संबंध में जितना सूक्ष्म और तलस्पर्शी विवेचन जैनदर्शन ने किया है वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता। आत्मा का मौलिक स्वरूप, कर्म के सम्बन्ध से उसमें आई हुई विकृतियां, कर्मों का विस्तृत निरूपण, कर्मबन्ध के कारण, कर्मबन्ध से छूटने के उपाय, कर्मों से मुक्ति और आत्मा का अपने शुद्ध मौलिक स्वरूप को प्राप्त करना आदि सभी बातों का सांगोपांग निरूपण जैनागमों और जैनग्रन्थों में विशद् रूपसे किया गया है। अधिकांश जैन साहित्य आत्मा और कर्म निरूपण से भरा हुआ है। परमपवित्र द्वादशांगी के प्रथम अंग आचारांग का प्रारंभ ही आत्मा के निरूपण को लेकर ही हुआ है जैसा कि — सुयं मे आउसं। तेण भगवया एवमक्खायं इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ तंजहा पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिशाओ आगओ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिशाओ आगओ अहमंसि, उतराओ वा दिशाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिशाओ आगओ अहमंसि, अहो दिशाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिशाओ, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं णो णायं भवइ, अस्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उवाइए के अहमंसि? के वा इओ चुओ इहं पेच्चा भविस्सामि।

आचारांग प्र. श्रु. प्र. अध्ययन प्रथमसूत्र:

श्री सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू से कहते हैं कि हे आयुष्मान जम्बू। मैंने सुना हैं उन भगवान् महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि इस संसार में कई जीवों को यह ज्ञान नहीं होता कि — मैं पूर्व दिशा से आया हूँ या दक्षिण दिशा से आया हूँ। पश्चिम दिशा से आया हूँ या उत्तर दिशा से आया हूँ। मै उर्ध्वदिशा से आया हूँ या अधोदिशा से आया हूँ। किसी एक दिशा या विदिशा से आया हूँ। कई जीवों को यह भी ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा जन्मान्तर में संचरण करने वाली है या नहीं? मैं पूर्व जन्म में कौन था? यहां से मरकर दूसरे जन्म मे क्या होऊंगा?'

उक्त आगमिक उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन आत्मतत्त्व की आधार शिला पर प्रतिष्ठित है।

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ'

जो एक आत्मा को जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है। यह कह कर जैन दर्शन ने आत्मा के सर्वांग महत्त्व को स्वीकार किया है।

'अप्पा सो परमप्पा'

आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा में परमात्मा का निवास है। आत्मा से परमात्मा बनना ही आत्मा की मंजिल है। आत्मा किस प्रकार और किस क्रम से आध्यात्मिक विकास करता है तथा विकास के दौरान वह किन किन अवस्थाओं का अनुभव करता है, यह जानने की सहज जिज्ञासा अध्यात्मप्रेमियों को होती है। इस जिज्ञासा को शास्त्रकारों ने 'गुणस्थान' के माध्यम से शान्त करने का महान् उपकार किया है।

गुणस्थान का स्वरूप

आत्मविकास की क्रमिक अवस्थाओं को जैन परिभाषा में गुणस्थान कहा जाता है। मुक्तिरूपी महल के लिये ये सोपान रूप हैं। आत्मा की अविकसित अवस्था से पूर्ण विकसित अवस्था की मंजिल पर पहुंचने हेतु ये अन्तर्वर्ती विश्राम स्थल : पड़ाव : है। ये आत्मिक व्यक्तियों के आविर्भाव की तरतमभावोंपन्न अवस्थाएं हैं।

जैन दृष्टि के अनुसार आत्मा का मौलिक स्वरूप शुद्ध चेतनामय है। अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति रूप-अनन्तचतुष्टय उसका सहज स्वरूप है। जिस प्रकार सूर्य स्वभावतः तेजोमय प्रकाश-पिण्ड है उसी तरह आत्मा स्वभावतः ज्ञान और सुख का अनन्त एवं अक्षय निधान है। घने बादलों के कारण जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश आवृत और आच्छन्न हों जाता है तो उसका वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार जब आत्मा कर्मो के आवरण से आवृत्त हो जाता है तो उसका सही स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। बादलों के आवरणों के क्रमशः हटने पर सूर्य प्रकाश का आविर्भाव होता है और सर्वथा आवरणों के हटने पर सूर्य का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसी तरह ज्यों ज्यों कर्मो के आवरण शिथिल होते जाते हैं त्यों त्यों आत्मा का स्वरूप प्रकट होने लगता है। सर्वथा आवरणों के विलय होने पर आत्मा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है और अपने मौलिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

जब आत्मा पर आवरणों की सघनता पराकाष्ठा पर होती है तब आत्मा प्राथमिक अवस्था में– अविकसित रूप में पड़ा रहता है और जब आवरण सर्वथा हट जाते हैं तो आत्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। ज्यों ज्यों आवरणों की तीव्रता कम होती जाती है त्यों त्यों आत्मा प्राथमिक अवस्था को छोड़कर क्रमवार आगे की और बढ़ता है, वह अपनी मंजिल पर आगे से आगे बढ़ता चला जाता है। अविकसित अवस्था से विकास की ओर अग्रसर होता हुआ आत्मा प्रथम और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरम बिन्दुओ के बीच असंख्य ऊंची नीची अवस्थाओं का अनुभव करता है। इन असंख्यात भूमिकाओं का जैन शास्त्रों ने चौदह गुणस्थानों के रूप में निरूपण किया है।

प्रधान आवरणः– मोहः –

आत्मा का सबसे प्रबल शत्रु मोह है। आत्मिक शक्तियों को आवृत करने वाला प्रधान आवरण मोह ही है। जब तक मोह बलवान और तीव्र रहता है तब तक अन्य आवरण भी बलवान और तीव्र बने रहते हैं। मोह के निर्बल होते ही अन्य आवरणों की वही दशा हो जाती है जो सेनापति के भाग जाने पर सेना की होती है। इसलिये आत्मा के विकास में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता है। इसी तरह आत्मा के विकास में मुख्य सहायक मोह की क्षीणता होती है। इसी कारण मोह की उत्कटता, मन्दता तथा अभाव को लेकर ही गुणस्थानों का विचार किया गया है।

मोह की दोहरी शक्तिः –

मोह अपनी दुधारी तलवार से आत्मा पर दुतरफा आक्रमण करता है। मोह में दोहरी शक्ति होती है। पहली शक्ति से वह आत्मा की यथार्थ दर्शन की शक्ति को कुंठित कर देता है। जिस प्रकार मदिरापान व्यक्ति को बेभान कर देता है, मदिरा के प्रभाव से व्यक्ति अपने विवेक को गवाँ बैठता है। उसी प्रकार मोह की मदिरा आत्मा की विवेकशक्ति को नष्ट कर देती है। मोहग्रस्त आत्मा अपने स्वरूप को भूल कर पर-रूप को अपना मानने लग जाता है। अपने अनन्त वैभव को बिसराकर वह तुच्छ पुद्गलों की ओर ललचाता है। वह अपने घर को छोडकर बाहर भटकने लगता है। वह अन्तर्दृष्टि से हट कर बहिर्दृष्टि वाला बन जाता है। यह दृष्टि-विपर्यास 'दर्शनमोह' कहलाता है। यह दर्शनमोह आत्मा को स्वरूप—पररूप का निर्णय किंवा जड चेतन का भेद करने नहीं देता। मोह की दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक हो जाने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति करने से रोकती हैं। उसे चारित्रमोह कहा जाता है। दृष्टि में यथार्थता या सम्यकत्व आ जाने पर भी यह चारित्रमोह पर-परिणति से हटकर स्वरूप में रमण करने नहीं देता है। इस प्रकार मोह की यह दुहरी शक्ति आत्मा को अपने स्वरूप से भ्रष्ट कर देती है। मोह की इन दो शक्तियों में से पहली शक्ति विशेष प्रबल होती है। पहली शक्ति के प्रबल रहते हुए दूसरी शक्ति कभी निर्बल नहीं होती। पहली शक्ति के निर्बल पड़ते ही दूसरी शक्ति भी निर्बल होने लगती है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक बार आत्मा को स्वरूप दर्शन हो जाय तो फिर उसे स्वरूप लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो ही जाता है।

गुणस्थानों का क्रमः– प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान :–

मोह– मदिरा के प्रगाठ नशे से प्रभावित आत्मा की सर्वथा अधः पतित अवस्था प्रथम गुणस्थान है। इसमें मोह की दोनों शक्तियों के प्रबल होने के कारण आत्मा की वास्तविक स्थिति सर्वथा गिरी हुई होती है। इस भूमिका के समय भौतिक उत्कर्ष कितना ही क्यों न हो जाय पर आत्मा की प्रवृत्ति तात्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होती है। उसके बारे प्रयास विपरीत दिशा में होते है। जैसे दिग्भ्रान्त व्यक्ति पूर्व को पश्चिम मानकर गति करता है तो वह इष्ट मंजिल पर नहीं पहुंच सकता, उसका सारा श्रम व्यर्थ होता है। इसी तरह मिथ्यादृष्टि वाला आत्मा पररूप को स्वरूप समझकर उसे ही प्राप्त करने को लालायित रहता है। वह रागद्वेष के प्रबल आघातों से अभिभूत होता है। इस स्थिति को जैन शास्त्र में मिथ्यात्व गुणस्थान कहा जाता है। मिथ्यात्व का यह आवरण भी एक सरीखा नहीं होता। तरतम भाव से कई कोटियां होती है। किसी आत्मा पर मोह का प्रभाव गाढतम, किसी पर गाढतर और किसी पर उससे भी कम होता है।

ग्रन्थि भेद : –

विकास करना आत्मा का स्वभाव है। अतः अन्ततो गत्वा जानते या अनजानते ऐसी स्थिति आती है जब मोह का प्रभाब कम होने लगता है और आत्मा विकास की और अग्रसर हो जाता है। जिस प्रकार पहाडी नदी का पत्थर विभिन्न आघातों से टकरा-टकरा कर गोलमोल बन जाता है इसी तरह आत्मा भी विभिन्न शारीरिक-मानसिक दुःखों को सहता सहता ऐसी स्थिति में आ जाता है जब उसके ऊपर लगे हुए कर्मो के आवरण में तनिक शिथिलता आ जाती है, और इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रभाव से उसमें अनुभव और वीर्योल्लास की मात्रा बढ़ती है, उसके परिणामों में शुद्धि आने लगती है। इसे जैन सिद्धान्त में काल-लब्धि कहते हैं। इसके बाद आगे बढ़ता हुआ आत्मा अपने पुरुषार्थ को प्रकट करता हुआ इतनी शुद्धि प्राप्त करता है जिसकी बदौलत वह राग-द्वेष की तीव्रतम-दुर्भर ग्रन्थिको तोड़ने योग्य बन जाता है। मोह-कर्म की ७० कोटा कोटि सागरोपम की स्थिति में से ६९ कोटा कोटि सागरोपम से कुछ अधिक की स्थिति को नष्ट कर डालता है। इस अज्ञानपूर्वक दुख संवेदनाजनित अति अल्प आत्म—शुद्धि को यथाप्रवृत्तिकरण कहा जाता है। लोक प्रकाश में कहा है—

यथा मिथो घर्षणात् ग्रावाणोऽद्रिनदो गत:।
स्युश्चित्राकृतयो ज्ञानशून्या अपि स्वभावतः ।।
तथा यथाप्रवृत्तात्स्युरप्यनाभोग लक्षणात् ।
लघुस्थिति कर्माणो अन्तवो एत्रान्तारे च

—लोक प्रकाश सर्ग ३

इसके बाद जब कुछ और भी अधिक आत्मशुद्धि तथा वीर्योल्लास की मात्रा बढ़ती है तब आत्मा उस राग द्वेष की ग्रन्थि को अपने प्रबल पुरूषार्थ द्वारा भेद डालता है। इस ग्रन्थि भेद की प्रक्रिया को अपूर्व करण कहा जाता है।

"तीव्रधार पर शुकत्या पूर्वारव्यकरणेन हि
आविष्कृत्य परं वीर्यं ग्रन्थि भिन्दन्ति केचन ।

—लोक प्रकाश सर्ग ३

ग्रन्थि भेद का कार्य बडा ही टेढ़ा है। मोह राजा का प्रधान दुर्ग राग-द्वेष की ग्रन्थि पर अवलम्बित है। जिस प्रकार दुर्ग ढह पडने पर राजा की शक्ति कमजोर हो जाती है इसी तरह रागद्वेष की तीव्रतम ग्रन्थि के छिन्नभिन्न होने पर मोह की शक्ति क्षीण हो जाती है। ग्रन्थिभेद होने से दर्शनमोह-शिथिल पड़ जाता है और दर्शन मोह के शिथिल पड़ते ही चारित्रमोह की शिथिलता का मार्ग भी खुल जाता है। ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया में सफल होने वाले आत्मा का अभ्युदय निश्चित हो जाता है। इस क्रिया में जो उत्तीर्ण हो जाता है उसका संसार-सागर से बेडा पार ही समझना चाहिए।

ग्रन्थिभेद के अवसर पर आत्मा और मोह का प्रबल संघर्ष होता है। एक तरफ आत्मा के शत्रु और मोह के प्रधान योद्धा, राग द्वेष अपने पूर्ण बल का प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ विकासोन्मुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। इस संघर्ष में कभी एक शक्ति जयलाभ करती है तो कभी दूसरी। अनेक आत्मा ऐसे होते हैं जो ग्रन्थि भेद के लिये किये गये इस संघर्ष में रागद्वेष के तीव्र प्रहारों से हार खाकर पीछे भाग जाते हैं। कई आत्मा ऐसे होते हैं जो न तो हार खाकर पीछे भागते हैं और न जयलाभ ही करते हैं, मैदान में जमे रहते हैं। कोई आत्मा ऐसे होते हैं जो रागद्वेष को अपने प्रबल पौरूष से परास्त कर विजयलाभ कर लेते हैं।

जीवन के हर क्षेत्र में सफलता पाने के लिए इन तीन प्रकार की स्थितियों का अनुभव होता रहता है। प्रत्येक कार्य में विघ्न आते हैं और उनसे संघर्ष करना ही पडता है। इस संघर्ष में कतिपय व्यक्ति हार खा जाते हैं तो वे लक्ष्य को प्राप्त नहीं करते और जो संघर्ष में पुरुषार्थ दिखाकर विषयी बनते हैं वे अपने इष्ट को प्राप्त कर ही लेते है। जो न हार खाते हैं और न प्रबल पुरुषार्थ ही प्रकट करते हैं ऐसे व्यक्ति बीच में झूला करते है। वे कोई उल्लेखनीय उत्कर्ष नहीं कर सकते।

शास्त्र में इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया गया है। तीन प्रवासी कहीं जा रहे थे। मार्ग में चोर मिले। चोरों को देखते ही एक तो भाग गया। दूसरा डर कर तो नहीं भागा परन्तु चोरों से पकड़ा गया। तीसरा व्यक्ति अपने बल पौरुष से चोरों को हराकर आगे बढ़ ही गया। इस दृष्टान्त से मानसिक विकारों के साथ होने वाले आध्यात्मिक युद्ध में प्राप्त होने वाले जय-पराजय को समझा जा सकता है।

जो आत्मा इस संघर्ष में प्रबल पुरुषार्थ प्रकट कर रागद्वेष की ग्रन्थि को भेदने में सफल हो जाता है उसे वह अद्भुत आनन्द आता है जो पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुआ। इस अपूर्व स्थिति को अपूर्वकरण कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके बाद आत्मशुद्धि और वीर्योल्लास की मात्रा अधिक बढ़ती है तब आत्मा दर्शनमोह पर अवश्य विजय लाभ करता है। इस विजयकारक आत्मशुद्धि को अनिवृत्तिकरण कहा जाता है। क्योंकि इस शुद्धि को प्राप्त करने पर आत्मा दर्शन मोह को हराये बिना नहीं रहता। वह दर्शनमोह को हराकर उस पर विजय प्राप्त कर लेता है। यह विजय प्राप्त होते ही आत्मा मिथ्यात्व के प्रथम गुणस्थान से निकल कर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है।

यह स्थिति प्राप्त होते ही आत्मा के प्रयासों की दिशा बदल जाती है। आत्मा अपने स्वरूप का यथार्थ दर्शन कर लेता है। बहिर्दृष्टि हट कर अन्तर्दृष्टि जागृत हो जाती है। यह अन्तरात्मभाव आत्म-मन्दिर का गर्भद्वार है जिसमें प्रविष्ट होकर परमात्मभाव रूप देव का दर्शन किया जाता है। इस भूमिका में आते ही आत्मा आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है। यह विकासक्रमकी चतुर्थ भूमिका अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान कहा जाता है।

२ सास्वादन गुणस्थान

संसारवर्ती आत्मा की स्थिति कभी एक सी नहीं रहती। उसके अध्यवसाय बदलते रहते हैं। कभी आत्मा उत्क्रान्ति के पथ पर अग्रसर होता है तो कभी उस पथ से भ्रष्ट होकर वह अपक्रान्ति करता हुआ नीचे लुढ़क पड़ता है। सम्यक्त्व के राजमार्ग से च्युत होकर जब कोई आत्मा मिथ्यादृष्टि वाली प्रथम भूमिका की ओर झूकता है तब बीच में पतनोन्मुखी आत्मा की जो कुछ अवस्था होती है वही सास्वादन गुणस्थान नामक दूसरा गुणस्थान है।

जिस प्रकार खीर खाकर कोई व्यक्ति वमन कर देता है तब उसके मुख में एक प्रकार का विलक्षण स्वाद होता है। न वह मधुर होता हैं न आम्ल। इसी तरह दूसरे गुणस्थान के समय आत्मा न तो तत्त्वज्ञान की निश्चित भूमिका पर होता है और न तत्त्वज्ञान की शुभ स्थिति पर ही। अथवा सिढ़ियों से खिसकता हुआ व्यक्ति जब तक जमीन पर नहीं आ जाता तब तक बीच में जो अवस्था होती है वैसी ही अवस्था इसमें होती है। सम्यक्त्व से गिरता हुआ व्यक्ति जबतक मिथ्यात्व में नहीं आ जाता, उस बीच की स्थिति में जो अध्यवसाय होते हैं या जो आत्मिक स्थिति होती है वही सास्वादन गुणस्थान समझना चाहिए।

३ मिश्र गुणस्थान

जब आत्मा न तो सम्यग्दृष्टि होता है और न मिथ्यादृष्टि किन्तु मिश्र स्थिति वाला होता है तब वह मिश्रगुणस्थान वाला कहा जाता है। ऐसा आत्मा तत्त्व को न तो एकान्त अतत्त्व समझता है और न तत्त्व अतत्त्व का विवेक ही कर पाता है। कांच और रत्न का भेद- ज्ञान करने में असमर्थ होने से वह दोनों को समान समझता है।

इस गुणस्थानमें दोनों प्रकार के आत्मा आते हैं। उत्क्रान्ति करने वाला आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकल कर इसमें आता है। अपक्रान्ति करने वाला आत्मा चौथे आदि गुणस्थानों से गिरकर भी इस गुणस्थान में आता है। दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय तीसरा गुणस्थान है।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

प्रथम गुणस्थान के वर्णन में कहा जा चुका है कि जब आत्मा दर्शनमोह को जीतने में सफल हो जाता है तो वह मिथ्यादृष्टि मिटकर सम्यग्दृष्टि बन जाता है। उसकी दृष्टि बदल जाती है। पहले वह भौतिक पदार्थों और ऐन्द्रियक विषयों के प्रति तीव्र आसक्तिभाव रखता था परन्तु अब वह उनके प्रति उदासीन रहता है। वह समझ लेता है कि ये पदार्थ नाशवान् है और असार है। इनसे मुझे सुख-शान्ति मिलने वाली नहीं है। वास्तविक आनन्द का निधान तो आत्मा ही है। इसी से आनन्दकी प्राप्ति होगी। इस तरह वह बहिर्दृष्टि से अन्तर्दृष्टि वाला बन जाता है। यह अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है, आत्मविकास की चतुर्थ भूमिका है।

यह यथार्थ दृष्टि तीन प्रकार की होती है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक। दर्शनमोह की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, इन तीन प्रकृतियों तथा चारित्रमोह की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियों—कुल सात प्रकृतियों के उपशम से आत्मा औपशामिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। सर्व प्रथम यही औपशामिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है। अतः यह काल पूर्ण होते ही आत्मा पुनः सम्यक्त्व से गिर जाता है किन्तु पुनः अपने पुरुषार्थ द्वारा उक्त सातों प्रकृतियों का क्षयोपशम करके क्षयोपशमिक सम्यग्दृष्टि बनता है। जो आत्मा इन सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है वह अधिक से अधिक तीन भव तक संसार में रहता है। चौथे भव में वह नियमतः मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव की बाहरी क्रियाओं में और मिथ्यात्वकी बाहरी क्रियाओं में कोई खास अन्तर दिखाई नहीं देता परन्तु अन्तरंग की परिणति में आकाश—पाताल जितना अन्तर हो जाता है। मिथ्यादृष्टि की परिणति सदा मलिन और आर्तरौद्रध्यान प्रचुर होती है जब कि सम्यग्दृष्टि की परिणति शुद्ध, प्रशस्त और धर्मध्यानमय हो जाती है। यद्यपि चारित्रमोह के तीव्र उदय से चौथे गुणस्थान वाला जीव— व्रत—शील-संयम अंगीकार नहीं कर सकता है तथापि विषय—सेवन के प्रति उसकी आसक्ति एकदम घट जाती है। वह अनासक्तभावमें—निर्लिप्त होकर संसारव्यवहार चलाता है।

५ देशविरति गुणस्थान

चौथे गुणस्थान में दर्शनमोह की शक्ति को शिथिल करके स्वरूप दर्शन कर लेने के पश्चात् आत्मा चारित्रमोह को शिथिल करने का प्रयास करता है। इस प्रयत्न में वह आंशिक विरति अंगीकार करता हैं। व्रत-शील-संयम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि को अंश रूप में अपनाता है। अंशतः स्वरूप स्थिरता या परपरणति—त्याग होने से चतुर्थ भूमिका की अपेक्षा इसमें अधिक शान्ति लाभ होता है। यह देशविरति नामक पंचम गुणस्थान है।

६ सर्व विरति गुणस्थान

पंचम गुणस्थान में अपनाये गये आंशिक व्रत — प्रत्याख्यानों से होने वाली शान्ति का अनुभव करता हुआ आत्मा सोचता है कि जब आंशिक विरति से ऐसी शान्ति मिलती है तो सर्व विरति से कितनी अधिक शान्ति मिल सकेगी ? यह विचार उसे सर्व-विरति की प्रेरणा देता है और आत्मा सब प्रकार के आरंभ-समारंभ को त्याग कर कुटुम्ब-परिवार की ममता को छोड़कर सर्व विरति-संयम को अंगीकार करता है। इस अवस्था में पौद्गलिक भावों पर मूर्छा नहीं रहती और स्वरूप की अभिव्यक्ति करने में ही आत्मा की सारी शक्ति लग जाती है। यद्यपि आत्मा संयम की साधना में संलग्न हो जाता है तदपि प्रमाद का सद्भाव इसमें बना रहता है। अतएव इस गुणस्थान को प्रमत्त संयत गुणस्थान भी कहते हैं।

७ अप्रमत्त संयत गुणस्थान

सर्वविरतिजनित शान्ति के साथ अप्रमादजनित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की इच्छा से विकासगामी आत्मा प्रमाद का त्याग करता है और अप्रमत्त भाव से स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन—चिन्तन के सिवाय अन्य सब व्यापारों का त्याग कर देता है, यह 'अप्रमत्त संयत' नामक सातवाँ गुणस्थान है।

इस भूमिका पर प्रमाद और अप्रमाद के बीच खींचातानी चला करती है। कभी आत्मा प्रमाद पर हावी होकर अप्रमत्तभाव में रमण करने लगता है और कभी प्रमाद हावी होकर आत्मा को तन्द्रा में डाल देता है। अतः कभी प्रमाद की तन्द्रामय और कभी अप्रमाद की जागृति की स्थिति बनती है। छट्ठे और सातवें गुणस्थान के बीच आत्मा बार बार आता जाता रहता है।

८ अपूर्वकरण गुणस्थान

अप्रमत्त आत्मा शेष रहे हुए मोह को नष्ट करने के लिये विशेष प्रयास करता है। मोह के साथ युद्ध करने के लिए आत्मा यहां विशेष रूप से तैयार होता है। तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षण में अपूर्व — अपूर्व ही होते हैं। प्रत्येक समय में उसके परिणामों की विशुद्धि अनन्त गुनी होती जाती है। ऐसे विशुद्ध परिणाम उसे पूर्व में नहीं प्राप्त हुए थे अतः उन्हें अपूर्व कहते हैं। इस गुणस्थान का कार्य मोहकर्म के उपशम या क्षपण की भूमिका तैयार करना है।

इस गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं। कोई विकासगामी तो मोह के संस्कारों को क्रमशः दबाता हुआ आगे बढ़ता है और अन्त में उसे सर्वथा उपशान्त कर देता है। विशिष्ट शुद्धि वाला कोई आत्मा ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है जो मोह के संस्कारों को क्रमशः जड़मूल से उखाड़ता हुआ आगे बढ़ता है और अन्त में उसे सर्वथा निर्मूल कर देता है। प्रथम श्रेणी को 'उपशम श्रेणी' और द्वितीय को क्षपक श्रेणी कहते हैं।

९ अनिवृत्ति बादर गुणस्थान :-

आठवें गुणस्थान में अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि प्राप्त करके विशिष्ट आत्मशक्ति का संचय करके यह आत्मा नौवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। इस भूमिका में प्रत्येक समयवर्ती जीवों के परिणाम यद्यपि उत्तरोत्तर अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि वाले होते हैं किन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही होते हैं। इस गुणस्थान में होने वाले परिणामों को विशुद्धि के कारण आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थितिघात, रसघात, गुणसंक्रमण, गुणश्रेणी और असंख्यगुण निर्जरा होती है। अभी तक जो करोडों सागरोपम की स्थिति वाले कर्म बंधते चले आ रहे थे उनका स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम होता जाता हैं। यहाँ तक कि इसके अन्तिम समय में कर्मों की जो जघन्यस्थिति बतलाई है तत्प्रमाण स्थिति के कर्मों का बंध होने लगता है। उपशम श्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान में मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभ प्रकृति को छोड़कर शेष सर्व प्रकृतियों का उपशम कर देता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव उन्हीं का क्षय करके दशवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी वाला मोहकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है।

१० सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान

इस गुणस्थान में परिणामों की प्रकृष्ट विशुद्धि के कारण मोहकर्म की शेष रही हुई सूक्ष्म लोभ प्रकृति की भी प्रति समय क्षीण शक्ति होती जाती है। उपशम श्रेणी वाला जीव तो इसके अन्तिम समय में इसका उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान में चला जाता है। क्षपक श्रेणी वाला जीव इस प्रकृति का क्षय करके बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है। जिस प्रकार धुले हुए कसुंबी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म लोभ नामक प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाती है अतएव इस गुणस्थान को सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

११ उपशान्त मोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

दशवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्मलोभ का उपशम होते ही समस्त कषायों का उपशमन हो जाता है और जीव उपशान्त कषायी होकर ग्यारहवें गुणस्थान में आता है। जिस प्रकार गन्दे जल में फिटकरी आदि डालने से उसका मैल नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है। इसी प्रकार उपशम श्रेणी में मोहनीय कर्म एक अन्तर्मुहुर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिसके कारण जीवन के परिणामों में एकदम वीतरागता, निर्मलता आ जाती है अतएव उसे उपशान्त मोह या वीतराग संज्ञा प्राप्त हो जाती है। किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म के विद्यमान होने से वह छद्मस्थ ही कहलाता है।

मोहकर्म का उपशम अंतर्मुहूर्त के लिए ही होता है अतएव इस काल की समाप्ति पर इस आत्मा का पतन होता हैं और वह नीचे के गुणस्थानों में चला जाता है। जिस प्रकार जल के तल में रहा हुआ मैल क्षोभ पाते ही ऊपर उठ कर जल को मलिन कर देता है उसी प्रकार पहले दबाया हुआ मोह पुनः सक्रिय होकर आत्मा को नीचे पटक देता हैं। ग्यारहवें गुणस्थान में जाने वाला आत्मा एक बार अवश्य गिरता है। गिरता हुआ वह प्रथम गुणस्थान तक भी आ सकता है परन्तु उसको यह अधःपतन की स्थिति कायम नहीं रहती। वह कभी न कभी दूनी शक्ति जुटा कर मोह का सामना करता है और क्षपक श्रेणी करके मोह का क्षय कर डालता है।

१२ क्षीण मोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का क्षय करके एकदम बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है। इसके अन्तिम समय में शुक्ल ध्यान का दूसरा भेद प्रकट होता है। इसके द्वारा आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का क्षय कर डालता है। मोह का क्षय तो पहले ही हो चुका होता है। इस प्रकार चारों घातिकर्मो का क्षय होते ही आत्मा कैवल्यदशा को प्राप्त करके तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३ सयोगि केवली गुणस्थान :

बारहवें गुणस्थान के अन्त में सब घनघाति कर्मों का एक साथ क्षय होते ही जीव विश्व के समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने-जानने लगता है। वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है। वह परमात्मभाव का पूर्ण आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर सच्चिदानन्द स्वरूप को व्यक्त कर लेता है। जैसे पूर्णिमा की रात्रि में आकाश में चन्द्र की सम्पूर्ण कलाएं प्रकाशमान होती है वैसे ही इस अवस्था में आत्मा की चेतना आदि सभी मुख्य शक्तियां पूर्ण विकसित हो जाती है।

१४ अयोगि केवली गुणस्थान :

तेहरवें गुणस्थान में चार अघाति कर्म दग्ध रज्जु के समान शेष रह जाते हैं। इनको भी इस गुणस्थान में नष्ट कर दिया जाता है। शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति यहां प्रकट होता है और उसके द्वारा मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का सर्वथा निरोध हो जाता है। योग-निरोध के कारण आत्मा अयोगी हो जाता है। समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति शुक्लध्यान द्वारा सुमेरू की तरह निष्कंप स्थिति को प्राप्त करके आत्मा शाश्वत मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह सर्वथा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर लोकोत्तर स्थान–सिद्धालय को प्राप्त कर लेता है। यही सम्पूर्णता है, कृतकृत्यता है और सर्वोत्तम सिद्धि है।

उपसंहार

ऊपर जिन चौदह गुणस्थानों का निरूपण किया गया है उनका तथा उनके अन्तर्गत संख्यातीत अवस्थाओं का बहुत ही संक्षेप में वर्गीकरण करते हुए शास्त्रकरों ने आत्मा की तीन अवस्थाएं बतलाई है— १ बहिरात्म अवस्था २ अन्तरात्म अवस्था और ३ परमात्म अवस्था।

प्रथम अवस्था में आत्मा का ज्ञान-प्रकाश अत्यन्त आच्छन्न रहता है जिसके कारण वह पोद्गलिक विषयों को ही सर्वस्व समझता रहता है। उन्हीं को पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान बहिरात्म दशा का चित्रण है।

दूसरी अवस्था में आत्मा की दृष्टि बदल जाती है। वह पौद्गलिक विलासों से हटकर शुद्ध स्वरूप की ओर लग जाती है। चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक अन्तरात्म अवस्था का दिग्दर्शन है।

तीसरी अवस्था में आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसके आवरण छिन्नभिन्न हो जाते हैं। तेरहवां और चौदहवां गुणस्थान परमात्म अवस्था का वर्णन है।

इस प्रकार बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिये समस्त भव्य आत्माओं को प्रयत्नशील होना चाहिए। आत्मविकास के इन सोपानों पर उत्तरोत्तर आरोहण करते हुए हम सब मुक्ति-सौध मे पहुंच कर अनन्तसुख का अनुभव करें यही कामना और भावना है।

: सिद्धा सिद्धि मे दिसन्तु :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org